आत्म-बोध

लेखक,
महात्मा नारायणदास जी

महात्मा श्री नारायणदास जी प्रणीत

आत्मबोध

द्वितीय सँस्करण

१९८४

मूल्य २=५०

गुरु पूर्णिमा सम्वत् २०४१

प्रकाशक,
नारायण अध्यात्मिक ट्रष्ट 'शक्ति सेवक सदन'
सरक्यूलर रोड, शिवपुरी (म. प्र.)

स्व. श्री महात्मा नारायणदास जी
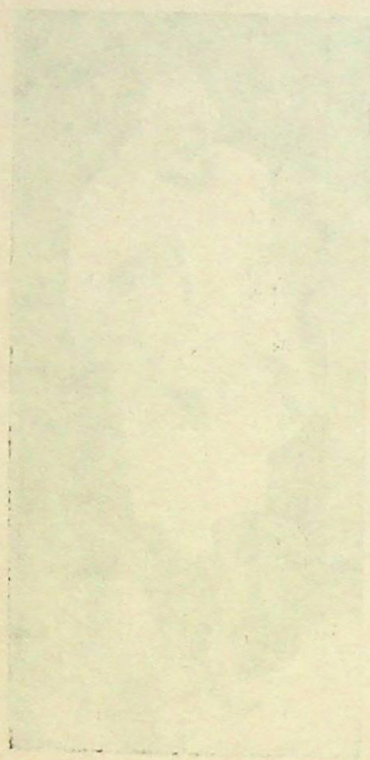
पूर्ववाचन

अध्यात्मविद्या के अनुभवी विशेषज्ञों के द्वारा लिखित 'आत्मबोध' विषय पर अनेकों अनुभूत निबन्ध एवं ग्रन्थ प्रामाणिक पुस्तकालयों के आध्यात्मिक पुस्तकों के कक्ष में प्रायः सुरक्षित रखे हुए देखे जाते हैं। आत्मानुरागी महानुभाव उन्हें पढ़ते हैं तथा उनसे लाभान्वित होते रहते हैं। किन्तु सत्य तो यह है कि इस विषय के प्रतिपादन की रीतियां प्रायः इतनी जटिल अनुभव में आती हैं कि जब उन्हें व्यवहार में लाया जाता है तब वे महान् कठिन प्रतीत होती हैं। निस्संदेह, यह सर्व विदित है कि सभ्यता के युग के प्रारम्भ से ही इस संसार में मानव, जीवननिर्वाह की पेचीदगियों की समस्याओं को सुलझाने में ही उलझता आ रहा है। सुलझाते-सुलझाते सचमुच उसे पेचीदगियों से इतना प्रेम हो गया है कि अब उसे सरल जीवन रुचिकर नहीं लगता। फलतः हमारे पावन साहित्य में भी गूढ़ रहस्य ही अधिकांश में पाये जाते हैं। वे चमत्कारों के भण्डार हैं और लोग भी प्रायः मुग्धकन्ठ से उनकी

सराहना करते हैं किन्तु जब उनकी व्यावहारिकता पर बिचार किया जाता है तब प्राय: जनसाधारण की बुद्धि के लिये वे अगम्य अनुभव होते हैं । फलतः सर्वसाधारण की रूचि इस विषय में कम होती जा रही है जबकि यह विषय ही वस्तुतः जीवन का ध्येय है । यदि इस विषय के सैद्धाँतिक प्रकरण को ठीक-ठीक समझकर उसे जीवन में प्रयोग किया जावे तो मानव-जीवन सार्थक हो जावे। सर्वसाधारण मानवीय तत्वों को विकसित करने वाले आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन करते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करने लगें।

इसी दृष्टिकोण से यह पुस्तिका "आत्म–बोध" सर्वसाधारण के लिये प्रकाशित की जारही है। इसका आरम्भ 'मैं कौन हूँ ?' इस सीधे एवं सरल प्रश्न से होता है। तुरन्त ही पाठक अपने को जानने के लिये उत्सुक हो उठेगा। तब वह पहले अपने को शरीर ही समझेगा, फिर शरीर से अहंकार, अहंकार से इच्छा-शक्ति, इच्छाशक्ति से विश्व की इच्छातरंगें फिर विश्व की इच्छातरंगों से प्राणशक्ति, अन्त में प्राण-शक्ति से परमात्मतत्व तक अपने को पहुंचा देगा।

इस प्रकार उत्तरोत्तर ऊपर उठकर फिर नीचे उतरेगा और अहंकार की महत्ता को समझेगा किन्तु, मस्तिष्क के संतुलन के हेतु परमात्वतत्व के अनुकरण को भी अत्यंत उपयोगी मानेगा । अन्ततोगत्वा वह अपने को प्रकृति रूपी मशीन का एक पुर्जा समझने लगेगा और यही मानने लगेगा कि जहां वह स्थित है वहीं वह ठीक है एवं उसका निर्माता इसी प्रकार से उसका उपयोग करना चाहता है। इसके उपरान्त 'आत्म–बोध क्यों ?' इस शीर्षक से यह तथ्य भली-भाँति व्यक्त किया गया है कि 'आत्म-बोध' के ज्ञान को प्रयोग में लाने से किस प्रकार मानव के प्रमुख तीन विकार–काम, क्रोध और लोभ दबाये जा सकते हैं तथा प्रमुख तीन मानवीय गुण-मस्तिष्क का संतुलन विश्वप्रेम और दृढ़ कर्त्तव्यपरायणता उभारे जासकते हैं।

आशा है, अध्यात्मविद्या के अनुरागी महानुभाव तो इस पुस्तिका से लाभान्वित होंगे ही साथ ही आत्म – बोध से अनभिज्ञ महानुभाव भी अपने स्वरूप को भलीभाँति समझ सकेंगे और आत्म – बोध की व्यावहारिक कला से भी परिचित हो सकेंगे जिसके

माध्यम से वे सहज ही पुनर्नवजीवन पाकर अड़चनों आदि से छोड़े गये अधूरे कार्यक्रमों को भी पुनः उत्साह से आरम्भ कर शाँति अनुभव करते हुए उत्तरोत्तर प्रगति कर सकेंगे।

—लेखक

मानव मस्तिष्क के पाँच बौद्धिक रूप

१- सर्वत्र व्याप्त परमात्मसत्ता-आत्मा का एक अभिभाजित अँश

२- सर्वत्र व्याप्त प्राणशक्ति-जीवनाधारशक्ति का एक अविभाजित अंश

३- विश्व के प्राणियों के मस्तिष्कों की विद्युत शक्ति के केन्द्रीकरण विन्दुओं का एक अंश

४- मानव की इच्छा - शक्ति के विद्युत केन्द्रीकरण विन्दु

५ मानव की अहँकार शक्ति के विद्युत केन्द्रीकरण विन्दु

अनुक्रमणिका

मैं कौन हूँ ?

मुझे कई बार बच्चों के नामकरण संस्कारों के समारोहों में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। संयोग से एक दिन मुझे भी यह बात समझ में आगई कि मेरा भी तो बचपन में नाम-करण संस्कार हुआ होगा और मेरा नाम 'नारायण' रखा गया होगा। प्रायः व्यक्ति का नाम लेकर ही लोग उसे बुलाते हैं और ऐसे ही मुझे भी लोग 'नारायण' कह कर बुलाते हैं और मैं 'नारायण' नाम से बोल भी देता हूँ। तो मैं यह नारायण हूँ कौन ? मैं इसी प्रश्न के विषय में सोचा करता था। अन्ततोगत्वा मुझे अपने नाम के रहस्य का पता लग ही गया और अब मैं उसी रहस्य को पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मैं शरीर से पृथक हूँ

मैं अपनी आँखों से दिखाई देने वाली आकृति को ही पहले 'नारायण' समझा करता था । ऐसे ही मेरे विचार से अन्य लोग भी प्रायः मेरी आकृति को ही 'नारायण' मानकर मुझे 'नारायण' कहा करते हैं, ऐसा मेरा अनुमान है । किन्तु यह आकृति जो बाहर से दिखलाई देती है वह भी बड़े-बड़े तीन भागों में विभक्त है। जिनके नाम भी पृथक पृथक हैं- सिर, धड़, और पैर। फिर इनमें से प्रत्येक भाग अनेक छोटे - छोटे भागों में विभक्त है । जैसे सिर के भाग हैं- मस्तक, आँख, कान, नाक और मुख आदि, धड़ के भाग हैं- हाथ, कलाई, अँगुलियाँ, छाती और पेट आदि और पैर के भाग हैं- जाँघ, घुटना, पिंडली और एड़ी आदि। तब मैं सोचने लगा कि क्या इतने सभी भाग पृथक - पृथक 'नारायण' हो सकते हैं ? किन्तु इन भागों को मेरी दृष्टि से 'नारायण' कहना संभव नहीं क्योंकि मैं तो अपने शरीर और उसके भागों से काम लेते समय उन्हें 'मेरा' सम्बोधन करता हूँ

जैसे 'मेरे हाथ', 'मेरे पैर' आदि । अतः इन्हें तो मेरे सेवक और मुझे उनका स्वामी होना चाहिये । चूँकि सेवकों से काम लेने वाला स्वामी, अपने सेवकों से पृथक होता है । अतः मेरा यानी नारायण का अस्तित्व भी मेरे सेवकों से पृथक ही होना चाहिये । यद्यपि शरीर के अवयव आदि के रूप में सेवकों से मुझ स्वामी का अस्तित्व आँख से पृथक नहीं दिखलाई देता, किन्तु बुद्धि से तो स्पष्ट समझ में आता है कि मुझे इनसे पृथक ही होना चाहिये । अस्तु, मेरे शरीर व उसके अवयवों का नाम यानी सिर, धड़ और पैर तथा उनके भाग मस्तक, आँख कान, नाक, मुख, हाथ कलाई, अँगुलियाँ, छाती, पेट, जाँघ, घुटना, पिंडली और एड़ी आदि का नाम 'नारायण' कदापि नहीं हो सकता । इनसे जो काम लेता है उसी का नाम 'नारायण' हो सकता है । अब यदि विचार किया जाय तो ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है कि वस्तुत शरीर तो नारायण के एक संस्थान के सदृश है और 'नारायण' यानी मैं उसके प्रधान के समान हूँ, जबकि इन्द्रियाँ आदि मेरे अन्तर्गत कर्मचारी जैसी प्रतीत होती हैं ।

मैं अपने शरीर तथा उसके अवयवों का शासक अहँकार हूँ

अब मुझे अपनी स्थिति शरीर तथा उसके अवयवों पर शासन करने वाले शासक जैसी अनुभव हुई। आतः मैंने अनुभव किया कि 'नारायण' नाम वास्तव में शरीर के अवयवों को आदेश देकर काम लेने वाले का है। चूँकि मुझे अपनी सत्ता का बोध है। अतः मुझे 'अहंकार' भी कहा जा सकता है। क्योंकि जब मैं अहंकार के रूप में अपनी आँखों को पीछे देखने का संकेत देता हूँ तो आँखें पीछे को देखने लगती हैं और जब मैं हाथों को कुछ पकड़ने का आदेश देता हूँ तो हाथ उसे पकड़ने लगते हैं। ऐसे ही सभी अपने अवयवों से मैं काम लिया करता हूँ। किन्तु कभी ऐसा भी संयोग आया कि मैंने तीस मिनट तक पलक न गिरने देने की शर्त्त एक मित्र से लगाली। मैंने बहुत चाहा कि पलक न गिरें। बारम्बार आँखों को मन ही मन पलक न गिरने देने का संकेत दिया पर पाँच मिनट के अन्दर ही

आँखें तिलमिलाने लगीं और मेरे आदेश की अवहेलना करके आँखों ने पलक झपका ही दिये। तब मुझे अपनी हस्ती का पता लगा कि मैं भी किसी अन्य सत्ता के अन्तर्गत काम करता हूँ जो शरीर एवं इन्द्रियों आदि की रक्षा करती है। अस्तु, अहंकार के रूप में 'नारायण' मैं नहीं क्योंकि मेरा यह रूप तो शक्तिहीन अहंकार है। मुझे तो शक्तिशाली अहंकार होना चाहिये जिसका आदेश इन्द्रियों को सर्वथा मान्य हो। अतः मुझे इन्द्रियों का स्वामी शक्तिशाली शासक होना चाहिये और इसी मेरे रूप का नाम 'नारायण' है।

मैं व्यक्तिगत मस्तिष्क की इच्छाशक्ति हूँ

अब मैं इस शक्तिशाली शासक के निवास स्थान तथा उसके काम करने के ढंग आदि की मानसिक खोज करने लगा। साथ ही मैंने वैज्ञानिकों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की भी अवहेलना नहीं होने दी। अस्तु, चिन्तन करते-करते मुझे अनुभव हुआ कि इस शक्तिशाली शासक का निवास स्थान मेरा मस्तिष्क ही है। क्योंकि, इस विषय में वैज्ञानिकों का भी मत

है कि देखे गये, सुने गये, पढ़े गये तथा मनन किये गये अनन्त पदार्थों के स्मृति चिन्हों की तरंगों का भंडार मस्तिष्क ही है। अतः इन स्मृति - चिन्हों की तरंगों में कुछ ऐसी भी विचार तरंगें होना चाहिये जो प्रभावित होकर इन्द्रियों को उस समय विशेष नियंत्रण में रखती हों जिस समय कि उन्हें इन्द्रियाँ अपने मूल प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध जाती हुई जान पड़ती हों अन्यथा उनके यंत्रवत् काम करते रहने पर वे हस्तक्षेप नहीं करतीं। हाँ, नियंत्रण की विधि भी यंत्रवत् स्वचलित होनी चाहिये। क्योंकि, इन्द्रियों पर नियंत्रण भी अपने आप होजाता है यानी व्यक्ति को वैसी ही इच्छा हो जाती है जैसे पलकों को देर तक स्थिर रहने से जब आँखों में जलन हुई यानी आँखों द्वारा मूल नियम का उल्लंघन किया जाने लगा। अत भीतर से पलकों को गिरा देने की इच्छा हुई और तुरन्त ही पलकें झपक गईं। इन्द्रियों पर नियंत्रण करने वाली तरंगों को बोलचाल की भाषा में 'इच्छाशक्ति' कहा जा सकता है। इस 'इच्छाशक्ति' के आधार पर ही इन्द्रियाँ काम करती अनुभव होती हैं और इन्द्रियों के विकारयुक्त होने पर यही शक्ति इन्द्रियों पर प्रतिबंध

लगा देती है। अस्तु, मैंने सोचा कि अब यदि इस इच्छाशक्ति को ही मैं 'नारायण' कहूँ तो असंगत नहीं।

मैं विश्व की इच्छाशक्ति हूँ

ज्यों-ज्यों मैं सोचता गया त्यों-त्यों ही मेरे नाम 'नारायण' का महत्व बढ़ता गया। अतः मेरे सोचने का क्रम बन्द नहीं हुआ और मुझे यह धुन सवार हुई कि यह 'इच्छाशक्ति' स्वयं ही स्फुरित होती है अथवा यह भी किसी अन्य शक्ति से प्रेरित है। तब अनुभव हुआ कि मेरी 'इच्छाशक्ति' स्वयं ही स्फुरित नहीं होती वरन् बाह्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के प्रभाव से प्रभावित होती है। क्योंकि यह अनुभूत तथ्य है कि यदि कोई वस्तु गिर जावे तो गिरने का शब्द होगा तब तुरंत ही जिधर से शब्द की ध्वनि आई है उस ओर को ही ध्यान जावेगा, यदि किसी वस्तु का शरीर से स्पर्श हो जावे तो जिस स्थान पर स्पर्श हुआ है उस ओर को ही आँख देखने लगेगी, यदि आँखों के सामने पशु, मानव आदि किसी की आकृति आजावे तो उस आकृति के विषय में विचार आने लगेंगे, यदि इत्र की शीशी खोली जावे तो तत्काल ही उस गंध की

है कि देखे गये, सुने गये, पढ़े गये तथा मनन किये गये अनन्त पदार्थों के स्मृति चिन्हों को तरंगों का भंडार मस्तिष्क ही है। अतः इन स्मृति - चिन्हों की तरंगों में कुछ ऐसी भी विचार तरंगें होना चाहिये जो प्रभावित होकर इन्द्रियों को उस समय विशेष नियंत्रण में रखती हों जिस समय कि उन्हें इन्द्रियाँ अपने मूल प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध जाती हुई जान पड़ती हों अन्यथा उनके यंत्रवत् काम करते रहने पर वे हस्तक्षेप नहीं करतीं। हाँ, नियंत्रण की विधि भी यंत्रवत् स्वचलित होनी चाहिये। क्योंकि, इन्द्रियों पर नियंत्रण भी अपने आप होजाता है यानी व्यक्ति को वैसी ही इच्छा हो जाती है जैसे पलकों को देर तक स्थिर रहने से जब आँखों में जलन हुई यानी आँखों द्वारा मूल नियम का उल्लंघन किया जाने लगा। अत भीतर से पलकों को गिरा देने की इच्छा हुई और तुरन्त ही पलकें झपक गईं। इन्द्रियों पर नियंत्रण करने वाली तरंगों को बोलचाल की भाषा में 'इच्छाशक्ति' कहा जा सकता है। इस 'इच्छाशक्ति' के आधार पर ही इन्द्रियाँ काम करती अनुभव होती हैं और इन्द्रियों के विकारयुक्त होने पर यही शक्ति इन्द्रियों पर प्रतिबन्ध

लगा देती है। अस्तु, मैंने सोचा कि अब यदि इस इच्छाशक्ति को ही मैं 'नारायण' कहूँ तो असंगत नहीं।

मैं विश्व की इच्छाशक्ति हूँ

ज्यों-ज्यों मैं सोचता गया त्यों-त्यों ही मेरे नाम 'नारायण' का महत्व बढ़ता गया। अतः मेरे सोचने का क्रम बन्द नहीं हुआ और मुझे यह धुन सवार हुई कि यह 'इच्छाशक्ति' स्वयं ही स्फुरित होती है अथवा यह भी किसी अन्य शक्ति से प्रेरित है। तब अनुभव हुआ कि मेरी 'इच्छाशक्ति' स्वयं ही स्फुरित नहीं होती वरन् बाह्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के प्रभाव से प्रभावित होती है। क्योंकि यह अनुभूत तथ्य है कि यदि कोई वस्तु गिर जावे तो गिरने का शब्द होगा तब तुरंत ही जिधर से शब्द की ध्वनि आई है उस ओर को ही ध्यान जावेगा, यदि किसी वस्तु का शरीर से स्पर्श हो जावे तो जिस स्थान पर स्पर्श हुआ है उस ओर को ही आँख देखने लगेगी, यदि आँखों के सामने पशु, मानव आदि किसी की आकृति आजावे तो उस आकृति के विषय में विचार आने लगेंगे, यदि इत्र की शीशी खोली जावे तो तत्काल ही उस गंध की

चर्चा होगी। ऐसे ही यदि किसी वस्तु को जीभ पर रखा जावे तो जीभ से स्पर्श होते ही उसके रस के विषय में कुछ न कुछ कहा जाने लगेगा। इस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध 'इच्छाशक्ति' को प्रभावित करते हैं अवश्य, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर अनुभव होता है कि आकर्षण और विकर्षण शक्ति की विद्युत तरंगें व्यक्ति के मस्तिष्क की इच्छा-शक्ति की विद्युत तरंगों को प्रभावित करने का विशिष्ट कारण हो सकती है। क्योंकि ऐसी स्थिति में भी जब कि शब्द सुनाई न दें, स्पर्श किसी का न हो, कोई रूप भी आँखों के सामने न आवे जीभ पर कोई वस्तु न रखी हो अथवा गंध का वातावरण भी न हो तब भी विचार, मस्तिष्क में उठते ही रहते हैं। और चूँकि यह विश्व, कारण और परिणाम के अनुसार चल रहा है अतः यह निश्चयात्मक रूप से कहा जासकता है कि यदि मस्तिष्क में विचार निरंतर उठते ही रहते हैं तो इसका भी कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिये। और यह भी एक वैज्ञानिक तथ्य है कि विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें आकर्षण या विकर्षण

को विद्युत शक्ति विद्यमान न हो तथा व्यक्तिगत मस्तिष्क सदा ही इन्हीं विद्युत तरंगों से प्रभावित होता रहता है। और चूँकि विश्व के प्राणियों के मस्तिष्क के आकर्षण और विकर्षण शक्ति के विद्युत कण (केन्द्रीकरण के विन्दु) सृष्टि के प्रारम्भ से ही विद्यमान हैं अतः उन्हें अविनाशी एवं नित्य विद्यमान कहा जाना चाहिये। चूँकि आकर्षण और विकर्षण शक्ति के विद्युत कण (केन्द्रीकरण के विन्दु) व्यक्ति गत मस्तिष्क की इच्छाशक्ति के विद्युत कणों (केन्द्रीकरण के विन्दुओं) को प्रभावित करते हैं तब उन्हें इच्छाशक्ति के रूप में परिणत हो जाना चाहिये। अतः इन कणों (केन्द्रीकरण के विन्दुओं) को विश्व की इच्छाशक्ति के विद्युत कण (केन्द्रीकरण के विन्दु) कहना सर्वथा उचित हैं। इस रहस्य के प्रकट होते हीं मैं अपने शरीर तक ही सीमित नहीं रहा वरन् प्राणी मात्र से मेरा सम्बन्ध हो गया। विशेषकर मानवमात्र के मस्तिष्कों की तरंगों के विद्युत कणों (केन्द्रीकरण के विन्दुओं से मैं अपने मस्तिष्क की तरंगों के विद्युत कणों (केन्द्रीकरण के विन्दुओं) को मिला हुआ अनुभव करने लगा। मेरे मस्तिष्क की इच्छाशक्ति के

चर्चा होगी। ऐसे ही यदि किसी वस्तु को जीभ पर रखा जावे तो जीभ से स्पर्श होते ही उसके रस के विषय में कुछ न कुछ कहा जाने लगेगा। इस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध 'इच्छाशक्ति' को प्रभावित करते हैं अवश्य, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर अनुभव होता है कि आकर्षण और विकर्षण शक्ति की विद्युत तरंगें व्यक्ति के मस्तिष्क की इच्छा-शक्ति की विद्युत तरंगों को प्रभावित करने का विशिष्ट कारण हो सकती है। क्योंकि ऐसी स्थिति में भी जब कि शब्द सुनाई न दें, स्पर्श किसी का न हो, कोई रूप भी आँखों के सामने न आवे जीभ पर कोई वस्तु न रखी हो अथवा गंध का वातावरण भी न हो तब भी विचार, मस्तिष्क में उठते ही रहते हैं। और चूँकि यह बिश्व, कारण और परिणाम के अनुसार चल रहा है अतः यह निश्चयात्मक रूप से कहा जासकता है कि यदि मस्तिष्क में विचार निरंतर उटते ही रहते हैं तो इसका भी कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिये। और यह भी एक वैज्ञानिक तथ्य है कि विश्व में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें आकर्षण या विकर्षण

को विद्यु त शक्ति विद्यमान न हो तथा व्यक्तिगत मस्तिष्क सदा ही इन्हीं विद्यु त तरंगों से प्रभावित होता रहता है। और चूँकि विश्व के प्राणियों के मस्तिष्क के आकर्षण और विकर्षण शक्ति के विद्यु त कण (केन्द्रीकरण के विन्दु) सृष्टि के प्रारम्भ से ही विद्यमान हैं अतः उन्हें अविनाशी एवं नित्य विद्यमान कहा जाना चाहिये । चूँकि आकर्षण और विकर्षण शक्ति के विद्यु त कण (केन्द्रीकरण के विन्दु) व्यक्ति गत मस्तिष्क की इच्छाशक्ति के विद्यु त कणों (केन्द्रीकरण के विन्दुओं) को प्रभावित करते हैं तब उन्हें इच्छाशक्ति के रूप में परिणत हो जाना चाहिये। अतः इन कणों (केन्द्रीकरण के विन्दुओं) को विश्व की इच्छाशक्ति के विद्यु त कण (केन्द्रीकरण के विन्दु) कहना सर्वथा उचित हैं। इस रहस्य के प्रकट होते हो मैं अपने शरीर तक ही सीमित नहीं रहा वरन् प्राणी मात्र से मेरा सम्बन्ध हो गया। विशेषकर मानवमात्र के मस्तिष्कों की तरंगों के विद्यु त कणों (केन्द्रीकरण के विन्दुओं से मैं अपने मस्तिष्क की तरंगों के विद्यु त कणों (केन्द्रीकरण के विन्दुओं) को मिला हुआ अनुभव करने लगा। मेरे मस्तिष्क की इच्छाशक्ति के

विद्युत केन्द्रीकरण के विन्दु विश्व की इच्छाशक्ति के केन्द्रीकरण के विन्दुओं का ही अविभाजित एक अंश मुझे प्रतीत होने लगा । अस्तु, मेरा नाम 'नारायण' जिसे मैंने इच्छाशक्ति कहा था अब विश्व की 'इच्छाशक्ति' के विद्युत केन्द्रीकरण के विन्दुओं में परिणत होगया । अतः अब मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि विश्व की इच्छाशक्ति की तरंगों के विद्युत केन्द्रीकरण के बिन्दुओं के ही एक अविभाजित अंश के रूप में मुझ 'नारायण' को होना चाहिये ।

मैं जीवनाधार प्राणशक्ति हूँ

अब मुझे अपने नाम के महत्व को और भी अधिक जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई । फलतः मेरे सोचने का क्रम चलता ही रहा । सोचते – सोचते यह विचार आया कि मानव तो बुद्धिजीवी प्राणी है । प्रत्येक कार्य को सोच समझ कर करता है । यदि विश्व की इच्छातरंगें एक एक व्यक्ति की इच्छातरंगों को अनर्गल नहीं वरन् विधिवत् प्रभावित करती हैं और व्यक्ति की इच्छा तरंगें भी व्यक्ति के अहंकार की तरंगों को उचित रीति से प्रभावित करती हैं तो इस प्रभावित करने

की क्रिया को बुद्धिसंगत होना चाहिये और ऐसे ही अहंकार की तरंगें इन्द्रियों तथा शरीर के अवयवों से काम लेती हैं तो काम लेने में भी समझने, समझाने की क्रियायें अवश्य होनी चाहिये । और यह ध्रुव सत्य है कि बुद्धिसंगत काम का होना अथवा समझने, समझाने की क्रिया का प्रतिपादन तभी संभव है जबकि तरंगों के समस्त व्यापार में चेतनता हो । अतः चाहे विश्व की इच्छातरंगें हों चाहे व्यक्तिगत अथवा अहंकार की तरंगें हों सभी को किसी न किसी अदृश्य चेतनशक्ति से प्रभावित अवश्य होना चाहिये । और चूँकि वह चेतनता एक साथ ही सब तरंगों को भिन्न-भिन्न स्तरों में रहते हुए भी सदा प्रभावित करती रहती है अतः उसे अविनाशी एवं सर्वत्र व्याप्त भी होना चाहिये । अस्तु, इस अदृश्य चेतन शक्ति को ही वास्तव में प्राणी का आधार यानी प्राणशक्ति कहा जा सकता है । चूँकि सर्प की चाल की गति, वायु की लहरों की गति के सदृश्य अनुभव होती है अतः तरंगों को अलंकृत रूप में 'नाग' या 'कुंडल' कहा जा सकता है । अतः संभव है इसी दृष्टिकोण से प्राचीन ऋषियों ने इन तरंगों की शक्ति

प्राणशक्ति को 'कुंडलिनी शक्ति' अथवा 'नागशक्ति' कहा हो। वस्तुतः समस्त सृष्टि रचना में इसी शक्ति का महत्वपूर्ण योग है। अतएव यदि पूर्व काल के मननशील महर्षिगण ने इस सत्ता को जीवनाधार कहा है तो असंगत नहीं है। अब चूंकि अब तक की समस्त शक्तियों में चेतनशक्ति सर्वोपरि है अतः मुझे अपने को चेतन प्राणशक्ति ही कहना उचित है यानी अब मैं 'नारायण' अपने को अदृश्य 'चेतन प्राणशक्ति' कहने में संकोच नहीं कर सकता।

मैं विश्व के समस्त प्राणियों की मूलाधार सत्ता परमात्मसत्ता हूँ

अब मैंने किंचित् और विचार किया तो मुझे अनुभव हुआ कि इस अदृश्य चेतनसत्ता का भी कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए और उस आधार को सर्वशक्तिमान् सर्व व्यापक, सर्वज्ञ एवं सुख-दुःख से परे होना चाहिये जो स्वयं किसी के आधार पर अवलम्बित न हो और उसके आधारमात्र पर समस्त शक्तियाँ अपना - अपना कार्य कर सकें। अतः ऐसी

आधारभूत सत्ता अवश्य होना चाहिये और वही सर्वात्मा, परमात्मा कहलाने की अधिकारी है जो आँखों से देखने का विषय चाहे न हो परन्तु बुद्धिग्राह्य अवश्य है। तब मैं अपने इसी दृष्टिकोण पर अधिक ही अधिक चिन्तन करने लगा। संयोग से एक दिन मैं मूलाधार सत्ता के अस्तित्व की जानकारी में इतना तल्लीन हो गया कि एकाएक यंत्रवत् मैं अपने ही विचारों को पढ़ने लगा और तब मैंने स्वतः ही बिना समझे बूझे, यंत्र के सदृश्य ही अपने से पूछा कि "अच्छा बताओ, जब तुम अपने विचारों को पढ़ रहे थे तब तुम्हारा क्या रूप था ?" मैंने बहुत प्रयत्न किया कि मैं कौन था, और मेरी कैसी आकृति थी जबकि मैं अपने विचारों को पढ़ रहा था। किन्तु मुझे न तो अपना भान हुआ न मेरी कोई आकृति का अनुभव हुआ। हाँ, इतना अवश्य अनुभव होता था कि मैं था अवश्य। उस स्थिति में न तो मुझे प्रसन्नता का अनुभव हुआ और न दुःख का। सर्वत्र शांति ही शांति अनुभव होती थी। मैं केवल अपने को साक्षीवत् अनुभव करता था और ऐसा लगता था कि मेरी उपस्थिति में प्रकृति ही सब कुछ कर रही है। अन्न पच रहा है,

नाड़ी चल रही है, रक्त नसों में जारहा है। विचार आ रहे हैं और जारहे हैं। तब, जब मुझे अपना ज्ञान हुआ तब निश्चय हो गया कि मूलाधार सत्ता विचारों के परे हैं, सुख दुःख से परे है और चूँकि चेतन सत्ता यानी प्राणशक्ति मूलतः विचारों का ही आधार है अतः चेतन प्राणशक्ति का प्रादुर्भाव अवश्य ही मूलाधार सत्ता से है। यद्यपि सत्ता के प्रादुर्भाव का प्राकट्य कभी नहीं अनुभव हो सकता ठीक उसी प्रकार जैसे कि मेरे विचार मेरे मस्तिष्क से निकलते अवश्य हैं किन्तु उनके निकास को देखा नहीं जा सकता। हाँ, केवल बुद्धिगम्य है। वस्तुतः इस मूलाधार सत्ता के बिना चेतनप्राणशक्ति का अस्तित्व नहीं। ऐसे ही विश्व की आकर्षण और विकर्षण शक्ति की विद्युत तरंगें बिना चेतन प्राणशक्ति के गतिशील नहीं हो सकतीं और व्यक्तिगत इच्छा तरंगों में बिना विश्व की आकर्षण और विकर्षणशक्ति की विद्युत तरंगों के स्फुरण नहीं हो सकता। इसी प्रकार अहंकार की तरंगें बिना व्यक्तिगत इच्छातरंगों की प्रेरणा के इन्द्रियों एवं शरीर के अवयवों से काम नहीं ले सकतीं। अतः यह निर्विवाद सत्य प्रतीत हुआ कि सर्वात्मा

जो मूलाधार सत्ता है उसके अस्तित्व के बिना सम्पूर्ण सृष्टि का अस्तित्व ही नहीं रह सकता । अस्तु अब मुझे वास्तव में सर्वात्मा ही होना चाहिये और मैं ही इस सृष्टि रूपी पुर में विश्राम करने वाला पुरुष कहलाने के योग्य हूँ और मेरी प्रकृति है मेरी चेतनप्राणशक्ति जो मेरे आधार पर स्थिर रहकर समस्त सृष्टि का सृजन, पालन और संहार अपने अन्तर्गत विविध शक्तियों के माध्यम से कराती रहती है ।

मेरे व्यक्तिगत छः रूप

अब तक पाठक पढ़ चुके हैं कि मैंने सबसे पहले अपने शरीर को ही अपना रूप समझा फिर दूसरी बार इन्द्रियाँ आदि के शक्तिहीन शासक, अहंकार को । तीसरी बार इच्छाशक्ति को चौथी बार विश्व की इच्छाशक्ति को, पाँचवी बार जीवनाधार प्राणशक्ति को और अन्त में छठवीं बार सर्व व्यापक मूलाधार सत्ता को ही अपना रूप माना । ये मेरे छः रूप हैं तथा श्रेष्ठता के अनुसार उनका क्रम है पहला मूलाधार सत्ता, दूसरा प्राणशक्ति या कुंडलिनीशक्ति, तीसरा विश्व

की इच्छाशक्ति, चौथा व्यक्तिगत इच्छाशक्ति, पांचवाँ अहंकार और छठवां है पार्थिव शरीर । तब मेरा ध्यान इन्हीं मेरे छः रूपों – पाँच मानसिक और एक देह सम्बंधी की व्यक्तिगत दृष्टि से क्या स्थिति है इस ओर ही आकर्षित हुआ ।

अतः अब मैंने एक व्यक्ति के रूप में अपने स्वरूपों पर विचार किया तो मुझे अनुभव हुआ कि मेरा प्रथम रूप मूलाधार सर्वात्मा का जो सर्वत्र व्याप्त है एक अविभाजित एवं अदृश्य अंश है जिसे मैं आत्मा' कह सकता हूँ । मेरा दूसरा रूप सर्वत्र व्याप्त चेतनप्राण-शक्ति अथवा कुंडलिनीशक्ति का ही एक अविभाजित अंश है जो व्यक्ति के अन्तर्गत सृजन, पालन एवं संहार की क्रिया करता है । मेरा तीसरा रूप सर्वत्र व्याप्त विश्व-इच्छाशक्ति की विद्युत तरंगों का वह भाग है जो व्यक्ति के मस्तिष्क में विद्यमान विचारतरंगों के विद्युत केन्द्रीकरण के विन्दुओं को प्रभावित करता है । मेरा चौथा रूप व्यक्ति के मस्तिष्क में विद्यमान उन विद्युत केन्द्रीकरण के विन्दुओं का है जो इच्छाशक्ति कही जाती है तथा विश्व की इच्छाशक्ति की विद्युत

तरंगों (केन्द्रीकरण के विन्दुओं) से प्रभावित होती रहती है । मेरा पाँचवा रूप व्यक्तिगत अहंकार की तरंगों का है जो व्यक्तिगत इच्छाशक्ति से प्रभावित होकर इन्द्रियों तथा शरीर के अवयवों से काम लेता है और मेरे छठे रूप में वे सभी उपकरण हैं जिनके माध्यम से अहंकार की तरंगें काम करती हैं । यह 'स्थूलशरीर' कहा जाता है जिसकी आकृति आँखों से दिखाई देती है। इस प्रकार मेरा छठा स्थूलरूप तो स्पष्ट दिखाई देता है और शेष पाँचों रूपों की सत्ता का सूक्ष्मरूप मस्तिष्क है।

मेरे पाँचवे रूप अहँकार की महत्ता

अब मुझे अपने दृष्टिकोण से उस रूप के जानने की इच्छा हुई जिसने अपने नाम के रहस्य को जानने का प्रयत्न किया और जो एक निश्चित परिणाम पर पहुँचा। स्पष्टतः मेरी दृष्टि तत्काल ही अपने पाँचवे रूप अहंकार पर गई। क्योंकि इस पाँचवें रुप में ही मैं जब तीस मिनट तक पलक न गिरने देने की होड़ में पराजित हुआ तब ही मुझे अपने से अधिक शक्तिशाली अपने विजेता की खोजने की प्रेरणा हुई। वस्तुतः मैं अपने पाँचवें रुप के

अन्वेषण कार्य की सफलता पर मुग्ध होगया और मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि यद्यपि मेरे सभी रूप अपने-अपने स्थान पर शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण हैं किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्यपालन करने की दृष्टि से मेरा पाँचवाँ रूप अहंकार ही है। इसकी स्थिति एक सेवक के तुल्य है जिसका स्वाभाविक धर्म प्रतिक्षण अपनी इच्छाशक्ति की सेवा में संलग्न रहना है। अस्तु, मुझे जीवनयापन के लिये ऐसा कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं कि मैं इच्छाशक्ति का सेवक अहंकार हूँ क्योंकि विना काम के किये जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता और कर्म करने में जो महत्वपूर्ण योग देता है वह अहँकार ही है।

अहंकार की कार्य प्रणाली

सचमुच, मुझे कर्म करने की दृष्टि से तो अहंकार के रुप को ही अपनाना होगा किन्तु अहंकार के कर्म करने में अनुकूल एवं प्रतिकूल स्थितियों का आना भी आवश्यक है, जिनके कारण मुझे सुखी या दुःखी भी बनना पड़ेगा जिससे मेरे मस्तिष्क का संतुलन भी गिर जावेगा।

मस्तिष्क के सँतुलित न रहने से मैं ठीक-ठीक काम नहीं कर सकूंगा। क्योंकि मैंने अनेक बार अनुभव किया है कि मेरी इच्छानुकूल काम होने की खुशी में मैं इतना संलग्न हो गया हूँ कि मुझे भोजन करने के लिये बार-बार बुलाये जाने पर ही मैंने भोजन किया मानो कि मेरी भूख ही उड़ गई हो ऐसे ही दुःख में भी प्रतिदिन की भाँति समय पर भोजन मुझसे नहीं किया गया। समय पर भोजन न करने से मेरी पाचनक्रिया दूषित होगई जिससे शरीर में शिथिलता आगई और अपनी दिनचर्या को उचित रीति से पालन करने में मुझे रुकावट अनुभव हुई। इस प्रकार मुझे अनुभव हुआ क वस्तुतः सुख-दुःख दोनों ही मानसिक संतुलन रखने में विघ्न रूप हैं। अस्तु, मस्तिष्क का संतुलित रहना परमावश्यक है और मस्तिष्क संतुलित उस समय रह सकता है जबकि वह अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति से उत्पन्न सुख या दुःख से प्रभावित न हो। वस्तुतः ऐसा मेरा रुप मूलाधार का है जो सुख-दुःख से कभी भी प्रभावित नहीं होता। अस्तु, है तो मेरे कर्मक्षेत्र का रूप अहंकार ही यानी सेवक का अवश्य, किन्तु मस्तिष्क को संतुलन में रखने के लिये मुझे

अपने प्रथम मूलाधार सत्ता की भी परमावश्यकता है, जिसका अनुकरण मुझे सुख-दुःख से ऊपर उठाकर कर्त्तव्य-निष्ठ बनाने में पूर्ण सहयोग दे सकता है । क्योंकि मूलाधार सत्ता का अनुकरण करते समय मुझे इस देह में अपना स्वरूप निर्विकारी आत्मा सदृश ही अनुभव होगा और मुझे मेरी प्रकृति ही जो मेरे शेष पाँचों रूपों का मिला हुआ रूप है, यानी चेतनशक्ति, विश्व की इच्छाशक्ति, व्यक्ति की इच्छाशक्ति, अहंकार तथा स्थूल शरीर का मिला रूप-सब काम करती हुई अनुभव होगी। यहाँ यह तथ्य भी विचारणीय है कि मूलाधार सत्ता का अनुकरण केवल उतनी देर को ही आवश्यक है जितनी देर में कि कर्मक्षेत्र में आने वाले सुख-दुःख से विचलित हुआ मस्तिष्क पुनः ताजा न हो जावे। निश्चयही जैसे ही व्यक्ति अनुभव करता है कि 'कर्म की कर्तृ प्रकृति है। उसीने सब कुछ किया है' वैसे हो वह अपने को समस्त उत्तरदायित्वों से मुक्त पाता है। ऐसी स्थिति तुरन्त ही उसे शाँति प्रदान करती है। उसका मस्तिष्क चिन्तामुक्त हो जाता है । फिर शाँतचित्त से पुनः कर्मक्षेत्र में आकर उत्तरदायित्व को सम्हालने से

काम उत्तमता से होगा। यही कर्म करने की अहंकार की उत्तम प्रणाली है । किन्तु यदि कोई शान्ति के प्रलोभन से मूलाधार सत्ता का अनुकरण सदा को ही करना चाहे यानी सदा ही साक्षी बनना चाहे तो यह नितान्त भूल है । क्योंकि ऐसा करने से वह कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकेगा। अकर्मण्य हो जावेगा। किसी भी उत्तरदायित्व को निवाहने में अयोग्य सिद्ध होगा। क्योंकि कर्म तो अहंकार से किये जाते हैं और अहंकार यदि विश्राम ही लेता रहे तो उसका काम कौन करे ? अहंकार के अभाव में शारीरिक, मानसिक सभी क्रियायें अस्त-व्यस्त होने लगेंगी । अस्तु, संक्षेप में मैंने यही सार निकाला कि वस्तुतः मैं अहंकार हूँ अपनी इच्छाशक्ति का सच्चा सेवक हूँ और मेरा धर्म शरीर की मशीन को सुव्यवस्थित चलाना है। साथ ही अपनी मूलाधार सत्ता का भी समयानुसार लाभ उठाना मुझे परमावश्यक है ।

मैं प्रकृति रूपी यँत्र का एक पुर्जा हूं

अपने स्वरूप के विषय में इतनी जानकारी करने के उपरान्त मैंने अत्यन्त ही सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया

और अपने से ही प्रश्न किया कि जो कुछ विवरण मैंने अपने स्वरूप का लिखा है वह क्या बिना मस्तिष्क के लिखा जा सकता था ? क्या मैंने मष्तिष्क की रचना की है अथवा क्या मेरे आदेश से मस्तिष्क के स्मृतिचिन्ह बने हैं ? तब मुझे सच्चाई से उत्तर देना पड़ा कि मस्तिष्क के बनाने में अथवा मस्तिष्क के स्मृतिचिन्हों के निर्माण में मेरा योग किंचित् भी नहीं है। तो फिर इस सब रचना में किसका योग है ? तब मुझे स्पष्ट अनुभव हुआ कि मूलधार परमात्मा से प्रभावित उसकी प्रकृति एक बृहत् स्वचलित यँत्र के सदृश है जिसमें छोटे बड़े अनन्त पुर्जे अपने-अपने स्थान पर लगे हुए हैं। इन पुर्जों में से मैं भी एक पुर्जा हूँ और जिस स्थान पर मैं लगा हूँ वहां ही मैं उचित फिट) हूँ। हां, इसमें सन्देह नहीं कि सर्व साधारण की दृष्टि में मैं एक 'नारायण' नाम का व्यक्ति हूँ किन्तु मेरे व्यक्तिगत दृष्टिकोण से मैं अपने छहों रूपों का मिला हुआ रूप हूँ जबकि यह भी संभव है कि बहुत से लोग मेरे शरीर की आकृति को ही 'नारायण' समझें जिसे वे अपनी आँखों से देखते हैं

आत्म-बोध क्यों ?

अब यह विवेक स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति का अहंकार जो कर्म का कर्त्ता है वह सेवक है, शासक नहीं। शासक उसकी इच्छाशक्ति है और उसका अस्तित्व अहंकार के अस्तित्व से पृथक है। चूंकि व्यक्ति का अहंकार उसकी इच्छाशक्ति के आधीन है अतः उसे उसके सेवक के समान आचरण करना चाहिये। जब तक अहंकार प्रबल रहता है तब तक उसकी इच्छाशक्ति गौण बनी रहती है। किंतु, जब इच्छा शक्ति के अधीन रह कर व्यक्ति का अहंकार कार्य करने लगता है तब इच्छाशक्ति पूर्ण स्वतंत्रता से अपना कार्य करना प्रारंभ कर देती है। इस स्थिति में अहंकार अपनी इच्छा शक्ति के कार्य में किंचित् भी हस्तक्षेप नहीं करता। जबकि

व्यक्ति की उत्तरदायिन् शक्ति अपने काम को अपने हाथ में ले लेती है तब उस व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिये सहज ही सुन्दर सुअवसर प्राप्त हो जाता है। आत्म-बोध के अध्ययन करने से सचमुच, इसी विचारधारा को अधिक बल मिलने लगा है कि मानवीय समस्त कार्यों के देखभाल का उत्तर दायित्व वास्तव में इच्छाशक्ति का ही है और इच्छाशक्ति के आदेशों के अनुसार बर्तने का कार्य अहंकार का है। इस प्रकार बिचार करने का परिणाम यह निकला है कि बिचारों के तत्सम स्मृतिचिन्हों का निर्माण मस्तिष्क में होने लगता है। जब ऐसे स्मृतिचिन्ह प्रचुर मात्रा में मस्तिष्क में निर्मित हो जाते हैं तब वे मस्तिष्क में पूर्व से विद्यमान अहंकार के स्वामित्व के स्मृतिचिन्हों को दबाने लगते हैं। अहंकार के बलहीन होने पर काम, क्रोध तथा लोभादि के विकार शनैः शनैः दबने लगते हैं तथा मानवी विकास की दृष्टि से मस्तिष्क का संतुलन, विश्वप्रेम तथा दृढ़ कर्त्तव्य परायणता आदि गुण पुष्ट होने लगते हैं। इसी तथ्य का विवरण अब किया जा रहा है।

१ कामनाओं से मुक्ति

यह अनुभूत तथ्य है कि मानव सदैव ही अपनी इच्छाओं की पूर्ति की धुन में लगा रहता है । जैसे ही उसको इच्छा की पूर्ति हुई नहीं कि तत्काल दूसरी इच्छा उसके मन में उत्पन्न हो जाती है और वह फिर उसके पूर्ण करने में लग जाता है। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ही अपनी इच्छाओं के कारण अशान्त बना रहता है। हाँ यह सत्य है कि जब अपने स्व-रूप की जानकारी रखने वाला व्यक्त अपने आत्मतत्व की यथार्थ स्थिति का अनुकरण करने लगता है तब वह अपने विचारों का साक्षी हो जाता है। इस अवधि में निश्चय ही वह कामनाओं से मुक्त हो जाता है। अतः आत्म-बोध के मनन करने वाले व्यक्ति की बिचारधारा इस प्रकार की होती है कि उसे सदैव अपनी हित-चिन्तक एवं प्रेरक इच्छाशक्ति के आधीन रहकर ही सेवक की भाँति कार्य करना चाहिये । चूंकि सेवक को तो स्वामी की इच्छानुसार चलना होता है अतः उसका निजी काम कोई नहीं होता इस प्रकार व्यक्ति का अहंकार इच्छारहित होने लगता है ।

क्योंकि जितनी भी इच्छाऐं उसे उठती हुई अपने में अनुभव होती हैं वे सब उसकी दृष्टि से वस्तुतः इच्छा-शक्ति की ही हैं, उसकी नहीं। उसकी स्थिति तो केवल मध्यवर्त्ती जैसी है। निस्संदेह, जिसके द्वारा कोई कार्य कराया जावे वह उस कार्य का स्वामी कैसे हो सकता है ? अस्तु उसका धर्म एक सेठ के मुनीम की भाँति है। यदि व्यापार में उसके द्वारा लाभ प्राप्त होता है तो वह लाभ सेठ का ही है। ऐसे ही यदि हानि होती है तो हानि भी सेठ की ही होगी। इस प्रकार की विचारधारा के पुष्ट होने से व्यक्ति इच्छाओं के भार से मुक्त हो जावेगा। फलतः इच्छाओं से आने वाली अशान्ति तुरन्त दूर होने लगेगी और व्यक्ति निश्चय ही शाँति का अनुभव करने लगेगा।

२ क्रोध का कम होना

मानव की अशांति का कारण उसकी इच्छाओं की पूर्ति का न होना तो है ही किन्तु इच्छाओं के उपरान्त यदि कोई उसे व्यथित कर देता है तो वह है उसके क्रोध की प्रबलता। निस्संदेह, क्रोध का इच्छा से अवश्यम्भावी चोली-दामन सदृश सम्बन्ध है। यह अनुभूत तथ्य है कि

प्रायः सर्व साधारण उन व्यक्तियों पर अपना क्रोध व्यक्त करते हैं जो उनकी इच्छापूर्ति में विघ्न डालकर उनके प्रतिकूल स्थिति निर्माण कर देते हैं। सचमुच, क्रोध व्यक्त करने से क्रोधी व्यक्ति का रक्त खौलने लगता है तथा उसे निर्बलता आने लगती है, जिससे व्यक्ति का पूर्ण शरीर ही शिथिल होकर काम करने के अयोग्य हो जाता है। कभी-कभी तो ऐसा भी अनुभव हुआ है कि क्रोध के कारण व्यक्ति विशेष के सारे जीवन का व्यक्तित्व धूल में मिल गया है। किन्तु जब आत्म–बोध हो जाता है तब शनैः शनैः उसके क्रोध की मात्रा कम होते-होते इतनी कम हो जाती है कि जैसे ही क्रोध के कारण मस्तिष्क में उत्तेजना आती है कि वैसे ही तुरन्त उसके क्रोध की उत्तेजना का वेग शिथिल हो जाता है। क्योंकि आत्म–बोध के मनन करने वाला व्यक्ति यह मानता है कि जैसे वह प्रकृति रूपी मशीन का एक पुर्जा है वैसे ही प्रकृति रूपी मशीन के सभी मानव एक – एक पुर्जे के तुल्य हैं। वस्तुतः व्यक्ति अहंकार के रूप में इच्छाशक्ति के आधीन है। अतः उसे वैसा ही करना चाहिये जैसा कि इच्छाशक्ति उसे आदेश दे। और

इच्छाशक्ति की प्रेरकशक्ति है बाह्य तरंगें और ये तरंगे में समाज के उन व्यक्तियों के मस्तिष्कों की जिनके कि बीच में वह रहता है। अतः वे व्यक्ति जिन्होंने उसकी इच्छापूर्ति में विघ्न डालकर प्रतिकूल परिस्थिति निर्माण की है, वस्तुतः दोषी नहीं हैं क्योंकि उनके मस्तिष्क को तो समाज के व्यक्तियों के स्मृतिचिन्हों ने उत्तेजित किया है। अस्तु, उसके लिये प्रतिकूल स्थिति बनाने में समाज के व्यक्ति अपराधी हैं न कि उसके विरोधी व्यक्ति। इस प्रकार की समाधान करने वाली तरँगें प्रचुर मात्रा में जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में निर्मित हो जावेंगी उसमें सहज भाव से ही परिवर्त्तन आने लगेगा। वह विरोधी के प्रति क्रोध व्यक्त न करते हुए उसके प्रति सहानुभूति दिखलाने लगेगा। शनैः शनैः क्रोध एवं घृणा की भावना भी उसकी उत्तरोत्तर कम होने लगेगी। सचमुच, आत्म बोध क्रोध कम करने में एक वरदान ही है।

३ लोभ की वृत्ति में कमी

अब तीसरा दुर्गुण जिसके कारण मानव का स्तर समाज में गिरजाता है और जिससे उसकी

उन्नति रुक जाती है वस्तुतः उसकी लोभ की बृत्ति है। विचारणीय है कि सभ्यता के युग के प्रारम्भ से ही बुद्धि-जीवी व्यक्तियों के मस्तिष्कों की विद्युत तरंगों में अधिकांश तरंगें लोभवृत्ति को उत्तेजित करने वाली ही हैं। निस्संदेह, भूतकाल के तत्वदर्शी विचारकों अथवा वैज्ञानिकों ने अनेकों गुप्त रहस्यों का अन्वेषण जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में किया है। किन्तु अधिकांश अन्वेषकों की मनोवृत्ति उन रहस्यों को लोकहित की दृष्टि से प्रकट कर देने की नहीं थी। अतः उन्होंने जो कुछ जाना उस जानकारी को वे अपने साथ ही ले गये। सचमुच, आज भी यही देखने में आता है कि बहुत से वृद्ध, अनुभवी लोग अनेकों जड़ी बूटियों के प्रयोग जानते हैं किन्तु वे जनसाधारण को तो उन औषधियों के प्रयोग बताते ही नहीं और उन लोगों को भी बतलाने में टालमटूल करते हैं जो केवल जनहित की दृष्टि से ही उनका प्रयोग जानना चाहते हैं। अतः यह कहना असंगत नहीं कि जब जनसाधारण के मस्तिष्क की स्मृति तरंगों को सर्व साधारण के मस्तिष्कों की स्मृति तरंगें ही

प्रभावित करती हैं तब व्यक्ति की लोभवृत्ति की तरंगों को ही अधिकांश में उत्तेजित होना चाहिये । फलतः जनसाधारण के मस्तिष्क में लोभवृत्ति ने अपनी जड़ें दृढ़ता से जमा रखी हैं। परिणामस्वरूप मानव इस दुर्गुण का इतना अभ्यासी हो गया है कि जो कुछ भी धन वह उपार्जित करता हैं उसे वह प्रायः अपने निज की महत्वपूर्ण आवश्यकताओं में भी यथोचित व्यय नहीं करना चाहता तब उस धन को दूसरे लोगों के हित में कैसे व्यय कर सकता है ? फिर इसमें आश्चर्य नहीं यदि यह कहावत प्रसिद्ध होकर जन-जन के मस्तिष्क में घर कर गई है कि 'मर जैयन पर तोय न भुजैयन' यानी प्राण दे सकते हैं पर रुपया नहीं देसकते। अतः लोभवृत्ति को जो प्राचीनकाल से चली आरही है मूलतः नष्ट कर-देना तो महान् कठिन है परन्तु फिर भी आत्म-बोध के मनन करने वाले व्यक्तियों की लोभ वृत्ति भी शनैः शनैः बहुत कुछ कम होने लगेगी। क्योंकि आत्म-बोध के मनन करने वाले व्यक्ति की विचारधारा के अनुसार जो कुछ भी द्रव्य मानव का अहंकार अपने श्रम से उत्पादन करता है वह समस्त द्रव्य अहंकार की स्वामिनी उस इच्छाशक्ति

का होता है जिसने उसे अपना कार्यसंपादन के हेतु शरीर एवं मस्तिष्क दिया है जबकि अहंकार स्वयं, वस्तुतः सेवक के तुल्य है। अतः अर्जित धन की पूरी राशि उसी की होनी चाहिये जिसे वस्तुतः उसके पाने का अधिकार है। सेवक की स्थिति तो मध्यवर्ती की है जिसके माध्यम से धन उत्पन्न किया गया है। इस विचारधारा से व्यक्ति का यही संस्कार प्रबल होने लगता है कि उसके द्वारा अर्जित धनराशि से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं है, उसकी स्वामिनी तो इच्छाशक्ति है और उसीने इस दृष्टि से उसे दिया है कि उस धन से वह शरीर को स्वस्थ रखे तथा उसकी समुचित रक्षा कर सके और व्यक्तिगत उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद जो भी द्रव्य यदि बचा रहा है तो समाज के अधिकारी व्यक्तियों में उनकी उचित मांग के अनुसार उस द्रव्य का सदुपयोग किया जावे। तब सचमुच, जब अहंकार, इच्छाशक्ति के खजानची के समान वर्तने लगता है तब उसे अपनी स्वामिनी इच्छाशक्ति की अनुमति से उस द्रव्य को उचितरीति से व्यय करने में आपत्ति अनुभव न होगी। तब लोभवृत्ति को पनपने के लिये कोई अवसर ही प्राप्त न होगा।

स्वीकृत धन का व्यय व्यक्तिगत उचित आवश्यकताओं की पूर्ति में होगा और फिर भी यदि कुछ धन शेष बच जाता है तो उसका भी सदुपयोग समाज के उन लोगों में हो सकेगा जिनकी आवश्यकताएँ उचित हैं और जो वास्तव में सहायता पाने के अधिकारी हैं। अस्तु, निश्चय ही, इस प्रकार आत्म-बोध को मनन कर तत्सम आचरण करने से व्यक्ति के तीनों ही प्रमुख विकार काम, क्रोध तथा लोभ सहज ही दबने लगेंगे।

सत्य ही, प्रकृति का नियम है कि जब व्यक्ति के दुर्गुण दबने लगते हैं तब स्वभावतः उसके गुण उभरने लगते हैं। तब अपने स्वरूप की जानकारी रखने वाले के प्रति भी इस प्राकृतिक नियम का उल्लंघन कैसे हो सकता है ? अस्तु, जब आत्म-बोध के अनुसार वर्तने वाले व्यक्ति के काम, क्रोध और लोभादि विकार प्रभाव हीन होने लगेंगे तब मस्तिष्क का सँतुलन, विश्वप्रेम तथा दृढ़ कर्त्तव्यपरायणता आदि उसके सद्‌गुणों को उभरकर पनपने का भी सुअवसर आना चाहिये। अतः अब उन सद्‌गुणों के विषय में ही विचार किया जा रहा है।

मस्तिष्क का संतुलन

इसमें संदेह नहीं कि अपने स्वरूप को जानकर तत्सम आचरण करने वाला व्यक्ति भी कर्म करते समय अनिवार्य रूप से आने वाली अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से प्रभावित अवश्य होता है। किन्तु, उसकी मान सक विचारधारा ऐसी होती है जिससे वह शीघ्र ही दोनों प्रकार की परिस्थितियों के बहाव में बहने नहीं पाता और अपने मस्तिष्क को संतुलन में रखकर बह पुनः उसी प्रकार काम करने लगता है जिसप्रकार कि दोनों परिस्थितियों से प्रभावित होने के पूर्व करता रहा है। अब प्रश्न उठता है कि इस प्रकार मस्तिष्क को संतुलन में रखकर काम कैसे किया जाता है ? वास्तविकता यह है कि अपने स्वरूप को जानकर काम करने वाला व्यक्ति निश्चयात्मक रूप से यह जानता है कि वह अपनी प्रकृति से पृथक है और बारम्बार इसी प्रकार के चिन्तन से उसका यही संस्कार दृढ़ हो जाता है। फलतः वह अपनी प्रकृति को कर्म की उत्तरदायिन् समझने लगता है और स्वयं को अपने कार्यकलाप का साक्षी मानता है।

चूंकि आत्मा का स्वभाव भी समान रहने का है अतः वह इस प्रकार आत्मा का अनुकरण करने लगता है। अतएव जब अनुकूल या प्रतिकूल घटनाएं घटित होती हैं और उनसे प्रभावित होकर मस्तिष्क का संतुलन गिरने लगता है जिससे हाथ में लिये काम की प्रगति रुकने लगती है तब तुरन्त ही वह कुछ समय के लिये आत्मासदृश अभिनय करने लगता है मानो कि वह उन अनुकूल या प्रतिकूल घटनाओं का साक्षी हो। तब उसकी मान्यतानुसार उतनी देर को उसका उत्तर-दायित्व उस पर से हटकर उसकी प्रकृति पर चला जाता है। चूंकि प्रकृति उससे पृथक है और उसका उत्तरदायित्व प्रकृति पर पहुँच गया है अतः वह तुरन्त ही अपने को अपने उत्तरदायित्व के भार से मुक्त अनुभव करता है। जिस साधक को गुरुकृपा से अपनी प्राणशक्ति की अनुभूति होगई है उसे साधनामें बैठते ही यही अनुभूति प्रत्यक्ष होती है, इसमें किंचित् भी संदेह नहीं। सचमुच उत्तरदायित्व के भार से मुक्त होते ही वह स्वस्थ होकर कर्म करने के लिये पुनः

उत्साहित हो जाता है यानी उसके मस्तिष्क की चिन्ता-युक्त शिथिल तरंगें अब चितारहित, सजीव होकर और अधिक उत्साह से पूर्ववत् कार्य करने को उत्सुक हो जाती हैं। इस विचारधारा के सदृश स्मृतिचिन्ह जब मस्तिष्क में प्रचुरमात्रा में विद्यमान हो जाते हैं तब वे भूतकाल के पड़े हुए निराशायुक्त संस्कारों को निर्बल बना देते हैं। भाव यह है कि जैसे ही अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों से प्रभावित होकर मानव मस्तिष्क हताश होने लगता है तैसे ही नवीन निर्मित उत्साहवर्धन के संस्कार उन्हें पराजित कर देते हैं और तुरन्त ही मानव का मस्तिष्क सँतुलित हो जाता है और दोनों प्रकार की परिस्थितियों से संघर्ष लेने के लिये पूर्णतया तैयार हो जाता है। अतः यह कहना सर्वथा उचित है कि अनिवार्य अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों से हताश हुए व्यक्ति को पुनर्नवजीवन प्राप्त करने के लिये आत्म-बोध के माध्यम से यथेष्ठ बल मिलता है।

विश्व प्रेम

आत्म–बोधज्ञाता के मस्तिष्क में स्वयमेव ही विश्वबन्धुत्व एवं विश्वप्रेम की भावना उभरने लगती

है। क्योंकि, आत्मबोध का ज्ञाता यह भली प्रकार जानता है कि प्रत्येक व्यक्ति विश्व की प्रकृति रूपी मशीन के एक-एक पुर्जे की भांति कार्य कर रहा है। चूंकि विश्व के समस्त प्राणी भी एक ही मशीन के एक-एक पुर्जे के समान हैं अतः प्राणीमात्र का एकमात्र एक ही स्वामी है। अतएव हिन्दू, मुसलिम, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध या जैन भी उसी मशीन के पुर्जे हैं और वे सबके सब जहाँ-जहाँ स्थित हुए काम कर रहे हैं वहाँ ही अपनी-अपनी जगह ठीक हैं। इतना ही नहीं वरन् वे सब ही निरन्तर स्वचालित मशीन के छोटे-बड़े उपयोगी अँग हैं। हाँ, यदि महत्व है तो उनके उपयोग का। अस्तु, उनकी उपयोगिता के अनुसार सभी पुर्जे बराबर के हैं। जहाँ एक छोटी सी कील की आवश्यकता है वहाँ एक हतौड़ा निष्प्रयोजन हैं। वह उसकी जगह पर उपयुक्त नहीं है। ऐसे ही हतौड़े के स्थान की पूर्ति एक कील नहीं कर सकती। प्रकृति रूपी मशीन में दोनों ही समान रूप से महत्वपूर्ण है। इस प्रकार आत्मबोध के ज्ञाता की दृष्टि में सभी प्राणी समान हैं चाहे व्यक्ति किसी भी जाति, धर्म, लिंग, धनी परिवार का

या झोंपड़ी में रहने वाला ही क्यों न हो। सभी प्राणी उसके सहयोगी होने की भावना से उसे प्रिय हैं। इस भावना के परिणामस्वरूप विश्वबन्धुत्व की भावना स्वयं ही पल्लवित हो उठती है जिससे मानव सहज ही अन्तर्राष्ट्रीय विचारों को प्रोत्साहन देने वाला हो जाता है। अस्तु, अपने स्वरूप की जानकारी की कला विश्वप्रेम की भावना उत्पन्न करती है, यह कहना असंगत नहीं।

दृढ़ कर्त्तव्यपरायणता

मानवमस्तिष्क में विद्यमान समस्त संस्कारों में जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह है अपने परिवार के सदस्यों के प्रति, समाज के प्रति, राष्ट्र एवं जगत के प्रति पूर्ण उत्तरदायी कर्त्तव्यपरायणता का संस्कार। वस्तुतः प्रकृति ने मानवमस्तिष्क की रचना इस प्रकार की है कि वह निरन्तर कुछ न कुछ अपनी रुचि के अनुसार सोचता विचारता रहता है। उसे सदैव यह भावना बनी रहती है कि जो भी व्यक्ति उसके सम्पर्क में आते हैं वे उसके हाथ में लिये काम में सहयोग दें। जिन लोगों से उसे सहयोग मिलता है वे उसे अच्छे लगते

हैं और उनके प्रति उसकी आसक्ति होने लगती है और जिनसे सहयोग नहीं मिलता उनके प्रति उसकी द्वेषबुद्धि हो जाती है । इस प्रकार राग और द्वेष दोनों से ही मस्तिष्क का संतुलन गिरजाता है जिससे उसके स्वभाव में उत्तेजना आजाती है । फलतः हस्तगत कार्य में संतोषप्रद प्रगति नहीं होने पाती । किन्तु, आत्म-बोध के ज्ञाता का मस्तिष्क अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति में इस भाँति उत्तेजित नहीं होता । क्योंकि उसके मस्तिष्क में उत्तेजना को उचित रीति से दबा देने वाले संस्कार प्रचुरमात्रा में होते हैं । वे उचित समय आते ही स्वयमेव उभरने लगते हैं । वे संस्कार इस प्रकार की विचार-धारा को लिये होते हैं कि सहयोग देने वाले अथवा नहीं देने वाले दोनों ही प्रकार के व्यक्ति उसी एक प्रकृति रूपी मशीन के पुर्जे हैं जिसमें वह भी एक पुर्जे के रूप में लगा हुआ है और वे सब पुर्जे उसी प्रकार कार्य करते हैं जिस प्रकार करने की उन्हें प्रेरणा मिलती है । सचमुच, वे अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त हैं । न तो कोई पुर्जा किसी दूसरे पुर्जे की सहायता कर उसे सुधार सकता है और न कोई

भी अन्य पुर्जा उसका कुछ भी बिगाड़ कर सकता है। अस्तु, ऐसे समाधानयुक्त स्मृतिचिन्ह उभर कर आत्म-बोध के ज्ञाता का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं कि वह आत्मनिर्भर रहते हुए पूर्ण मनोयोग से पूर्णशक्ति का उपयोग कर कर्त्तव्यपालन करे। हाँ, इतना अवश्य है कि जो उसे सहर्ष स्वस्थ सम्मति देना चाहता है तो उसकी सम्मति से वह लाभ उठाता है किन्तु उन सम्मति देने वालों के प्रति अधिक आसक्त नहीं होता। वैसे ही जो उसे सहयोग नहीं देते उनके प्रति वह ईर्षा नहीं करता किन्तु उनसे सावधान सदैव रहता है। सत्य ही, वह अपनी उन्नति करने के लिये प्रयत्न करने में कोई भी कसर नहीं छोड़ता। इस प्रकार का आचरण उससे यंत्रवत् ही होने लगता है) साथ ही उसके कारण अन्य लोगों की प्रगति में बाधा भी नहीं पहुंचती। इस प्रकार आत्म बोध का ज्ञान, व्यक्ति को सच्चाई एवं बुद्धिमानी से कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिये प्रोत्साहन देता है और यदि कोई कठिनाई उसके सामने आजाती है तो उसे साहसपूर्वक सह लेने की प्रेरणा देता है

किन्तु कर्त्तव्य-परायणता से विचलित कभी न हो इस भावना को पूर्णरूपेण पुष्ट करता है। निश्चय ही आत्म-बोध के माध्यम से यह संस्कार पुष्ट होकर मानवजीवन को सार्थक बनाने में पूर्ण सहयोग देता है। अतः आत्म-बोध की आवश्यकता मानवजीवन को सफल बनाने के लिये सर्वोपरि है, यह निर्विवाद सत्य है।

महात्मा श्री नारायणदास जी

प्रणीत ग्रन्थ

		मूल्य
१-	गीता मृत (जीवनी यापन की कला) अध्याय १ से १८	१५-००
२-	रामचरित मानस के दस प्रसँग	२-००
३-	रामचरित मानस के १० रहस्य	२-७५
४-	साधक शँका समाधान	२-००
५-	साधक प्रश्नोत्तर शतक	२-००
६-	साधक प्रश्नोत्तर द्वितीय शतक	३-००
७-	साधक विचार प्रगति	१ ००
८-	साधक साधना (भजन)	१ २५
९-	जैसे मैंने सीखा अनभूति से पूर्व की मेरी जीवन घटनायें	२-५०
१०	कुण्डलिनी व्यक्तिगत अनुभव, सजिल्द	१०-००
११-	आत्म बोध	२ ५०
१२-	Realisation of the self (English)	१-५०
१३-	साधना	२-००
१४-	स्वशक्ति साधना का सँक्षीप्त परिचय	०-५०
१५-	दिव्यशक्ति बोध भजन)	०-६५
१६-	वचनामृत	१-००
१७-	बुद्धि विकाश	१-५०
१८-	बापू के एकादशवृत	१-००
१९-	ईशावास्योपनिषद (व्यक्तिगत दृष्टि कोंण	४-५०
२०-	मानव विकाश की पूर्णता	२-००
२१-	कुण्डलिनी का जीवन में उपयोग (सजिल्द)	७-००
२२-	रामचरित मानस में कुण्डलिनी (व्यक्तिगत अनुभव)	४ ००
२३-	मैंपन का विवेचन व्यक्तिगत अनुभव)	५-००

प्रकाशक :- नारायण आध्यात्मिक ट्रस्ट, शिवपुरी

मुद्रक- ऊषा प्रेस, शिवपुरी।